कुछ कहें, कुछ करें

सामुदायिक मीडिया और सामाजिक परिवर्तन

फ़ैज़ उल्लाह

आधुनिक लोकतांत्रिक समाज के आकार और उसकी लगातार बढ़ती जटिलता के लिए एक मज़बूत, सुलभ और स्वतंत्र मीडिया बेहद ज़रूरी है। यह उस सार्वजनिक दायरे का प्रमुख हिस्सा है जहाँ आमजन लोक-मुद्दों के बारे में अपने विचार साझा करते हैं, बहस-मुबाहिसा करते है, और आम राय बनाते हैं। हालाँकि संवैधानिक व्यवस्था के अंतर्गत नागरिकों की राजनीतिक भागीदारी के लिए आज बाधाओं की संख्या में थोड़ी कमी आयी हैं, पर राजनीतिक रूप से महत्त्वपूर्ण नागरिक के तौर पर व्यक्ति अभी भी सम्भावना के दायरे में ही सीमित है। इसका एक बड़ा कारण है मीडिया संस्थानों और उनकी प्रक्रियाओं में आधारभूत भेदभाव, जिसके चलते कमज़ोर समुदाय और उनकी आवाज़ को इरादतन दरकिनार कर दिया जाता है। मुख्यधारा का मीडिया— मोटे तौर पर निजी कम्पनियाँ और सरकारी स्वामित्व वाले दूरदर्शन और आकाशवाणी— आर्थिक मुनाफ़े और राजनीतिक ताक़त की ताल भरते हैं। उनमें जनजीवन से जुड़े मुद्दों के लिए बहुत कम जगह है। वैकल्पिक मीडिया, जो आमतौर पर नागरिक समूहों द्वारा संचालित है, कुछ संदर्भों में प्रभावशाली साबित हुआ है पर अकसर अपनी अलोकतांत्रिक कार्यपद्धति के कारण वह असुविधाजनक सवालों से भी घिरा रहा है। उसका यह पहलू ख़ास तौर पर लोगों की भागीदारी के संदर्भ में ज़्यादा उजागर होता है। इस लेख का लक्ष्य यह है कि इस विषय में लोगों की आवाज़ को बुलंद करने और उन्हें राजनीतिक रूप से सक्षम बनाने में सामुदायिक मीडिया की क्या भूमिका हो सकती है? यह लेख दिल्ली राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र और मुम्बई में सामुदायिक मीडिया के साथ मेरे पिछले चार वर्षों के काम और सीखने-सिखाने के अनुभवों पर आधारित है। इस लेख में प्रौद्योगिकी के लोकतंत्रीकरण पर भी प्रकाश डाला गया है।

यूँ तो 'एक व्यक्ति, एक वोट' का संवैधानिक अधिकार हम सबको राजनीतिक प्रक्रियाओं में भाग लेने की एक समान आज़ादी देता है पर हाशिये पर बसी एक बड़ी संख्या के लिए यह आज़ादी आज भी बेमतलब है। एक बेहतर समाज में गरिमापूर्ण जीवन की तमाम आकांक्षाएँ केवल उनके एक वोट में सिमट कर रह गयी हैं। हैदराबाद सेंट्रल युनिवर्सिटी के दिवंगत दलित छात्र रोहित वेमुला[1] ने इस अनुभव को अपने आख़िरी ख़त में बहुत मार्मिकता से रेखांकित किया है : 'एक आदमी की क़ीमत उसकी तात्कालिक पहचान और नज़दीकी सम्भावना तक सीमित कर दी गयी है। एक वोट तक। आदमी एक आँकड़ा बन कर रह गया है। एक वस्तु मात्र। कभी भी आदमी को उसके दिमाग़ से नहीं आँका गया। एक ऐसी चीज़ जो स्टारडस्ट से बनी थी। हर क्षेत्र में, अध्ययन में, गलियों में, राजनीति में, मरने में और जीने में'।[2]

समाजशास्त्री आंद्रे बेते की राय में नागरिकता के दायरे में केवल मात्रात्मक स्तर पर ही फैलाव हुआ है। आज ज़्यादा-से-ज़्यादा लोग राजनीतिक प्रक्रियाओं में भाग ले रहे हैं। पर जहाँ तक नागरिकता के दायरे में गुणात्मक प्रगति का सवाल है, तो स्थिति काफ़ी गम्भीर है। बेते के अनुसार, 'सार्वजनिक दायरा, जिसमें समाज के प्रमुख संस्थानों के संबंध में निर्णय किया जाता है, अधिकांश भारतीय लोगों की पहुँच से बाहर है।'[3] दूसरे शब्दों में कहा जाए तो लोगों के वोटों की गिनती तो होती है पर उनकी आशाओं और अपेक्षाओं का आकलन नहीं किया जाता। यह इसी संकुचित और विकृत राजनीतिक संस्कृति की देन है कि आज सत्ताधारी शक्तियों को सामाजिक न्याय की माँगें नाजायज़ और षड्यंत्रकारी प्रतीत होती हैं। विश्वविद्यालयों से लेकर कारख़ानों तक स्वतंत्र अभिव्यक्ति का अभाव हमारी समकालीन राजनीतिक सोच के दिवालियेपन को बख़ूबी उजागर करता है। लोगों की ज़रूरतों के नाम पर राज्य और सरकार सिर्फ़ कुछ ऐसी औपचारिकताओं का निर्वाह करने भर के लिए है कि सार्वजनिक मत का सम्मान करे। यहाँ यह कहना ज़रूरी होगा कि मीडिया के अलावा भी सार्वजनिक दायरे में लोगों के जुड़ने और भाग लेने के कई आयाम हैं, जैसे ग़ैर-सरकारी संस्था, स्वैच्छिक संगठन, इत्यादि।

सरसरी तौर पर देखा जाए तो समकालीन मीडिया परिदृश्य बहुत जीवंत नज़र आता है। आये दिन हमारा किसी-न-किसी नये टीवी चैनल, अख़बार, वेबसाइट या ऐप्प से सामना हो ही जाता है। बातचीत और बहस भी काफ़ी होती है — कई मीडिया विश्लेषकों की राय में शायद ज़रूरत से ज़्यादा ही। क्या इसका यह मतलब निकलता है कि इन चर्चाओं में सभी नागरिकों की भागीदारी या उनके हितों की चिंता या गुंजाइश स्वतः शामिल रहती है?

सार्वजनिक दायरे के अर्थपूर्ण होने के कुछ मानदण्ड हैं : सुलभता, समावेशिता, समानता और संवाद।[4] पहले, सभी लोगों को और उनके सरोकारों को इसमें शामिल किया जाना चाहिए — यानी इसमें सभी नागरिकों को भाग लेने का मौक़ा उपलब्ध होना चाहिए। दूसरे, सभी लोगों के बीच तर्कसंगत आलोचनात्मक संवाद[5] के ज़रिये आम राय बननी चाहिए। इन चार मानदण्डों का मेल ही इस मीडिया को सार्वजनिक बनाता है। ज़ाहिर है कि समकालीन मीडिया की तरह सार्वजनिक दायरा भी केंद्रीकृत न होकर कई संबंधित, परस्पर रची-बसी और संघर्षशील इकाइयों में बँटा हुआ है।[6] 'सब लोगों' का मतलब देश की पूरी आबादी नहीं है, बल्कि उसमें ऐसे सभी लोग

---

[1] रोहित वेमुला (30 जनवरी, 1989-17 जनवरी, 2016) की राजनीतिक गतिविधियों को समस्याजनक मानते हुए विश्वविद्यालय प्रशासन ने उसकी छात्रवृत्ति रोक कर उसे हॉस्टल से निष्कासित कर दिया था. वेमुला की आत्महत्या को कई सामाजिक हलक़ों ने संस्थागत हत्या क़रार दिया है.

[2] रोहित वेमुला (2016).

[3] आंद्रे बेते (2003).

[4] युरगन हैबरमास (1991).

[5] रैशनल क्रिटिकल डिस्कोर्स

[6] क्रेग कैल्ह्रों (1992).

शामिल हैं जो दायरे की किसी भी इकाई / इकाइयों में शामिल होने की चाह रखते हों।

बदलते सामाजिक संबंधों के लिहाज़ से सामाजिक दायरे की कल्पना आज थोड़ी अलग होनी चाहिए। ग़ौरतलब है कि पुराने और प्रतिक्रियात्मक बुर्ज्वा / कुलीन वर्ग केंद्रित समाज में हाशिये पर बसे लोगों के लिए कोई जगह नहीं होती। आज कोई एक सामाजिक दायरा, चाहे वह कितना भी ताक़तवर क्यों न हो, सभी लोगों की अभिलाषाओं को समाविष्ट नहीं कर सकता। ऐसे दायरे में आम तौर पर सबसे कमज़ोर और उत्पीड़ित वर्गों— महिलाओं, दलितों, बहुजन समूहों, आदिवासियों, मेहनतकश / मज़दूरों, शहरी ग़रीबों, ग्रामीणों, हर तरह के अल्पसंख्यकों इत्यादि को और उनके सरोकारों को हमेशा कम तवज्जो मिलती है। उन्हें समाज के प्रतीक्षागृह से बाहर नहीं आने दिया जाता। उन्हें हमेशा अपनी बारी आने का इंतज़ार करने को कहा जाता है। इस ऐतिहासिक और बुनियादी असमानता के साये में जहाँ कुछ आवाज़ दूसरी आवाज़ों पर भारी पड़ती हों या कुछ मुद्दे दूसरे मुद्दों पर हावी हो जाते हों, वहाँ किसी भी संवाद का कोई मतलब नहीं रह जाता।[7]

समाजशास्त्री आंद्रे बेते की राय में नागरिकता के दायरे में केवल मात्रात्मक स्तर पर ही फैलाव हुआ है। आज ज़्यादा से ज़्यादा लोग राजनीतिक प्रक्रियाओं में भाग ले रहे हैं। पर जहाँ तक नागरिकता के दायरे में गुणात्मक प्रगति का सवाल है, तो स्थिति काफ़ी गम्भीर है। बेते के अनुसार, 'सार्वजनिक दायरा, जिसमें समाज के प्रमुख संस्थानों के संबंध में निर्णय किया जाता है, अधिकांश भारतीय लोगों की पहुँच से बाहर है।'

ऐसे में, हमें उन सामाजिक दायरों की ज़रूरत है जो अपने आप में भले ही ज़्यादा बड़े या ताक़तवर न हों, पर एक-दूसरे से तालमेल रखते हुए व्यापक उपस्थिति का एहसास कराने की क्षमता रखते हों। भारतीय मीडिया के अध्येता रोबिन जेफ्री ने इस अवधारणा के संदर्भ में एक चित्रात्मक उपमा सामने रखी है : 'एक अण्डे के बारे में सोचिए जिसकी नारंगी ज़र्दी एक संकीर्ण, पुरानी और कुलीन सार्वजनिक दायरे की प्रतीक है। मीडिया क्रांति के बाद यह ज़र्दी टूट गयी – ज्ञान / सूचना के विस्तार से, मिश्रित होने से सार्वजनिक दायरे ने एक ऑमलेट का रूप ले लिया है। चटकीला केंद्र चला गया है और पूरा दायरा पसर गया है'।[8]

सार्वजनिक दायरे की परिकल्पना यूँ तो बाज़ार अर्थव्यवस्था और राज्य तंत्र द्वारा आम जनजीवन पर होने वाले अतिक्रमण की काट करने के लिए की गयी थी। दूसरे शब्दों में उसे एक जनतांत्रिक बाँध के रूप में कल्पित किया गया था।[9] पर असल में ऐसा हो नहीं पाया। पूँजीवादी और नवउदारवादी व्यवस्थाएँ जैसे-जैसे सशक्त होती गयीं वैसे-वैसे संस्कृति / तहज़ीब का तेज़ी से बाज़ारीकरण होने लगा। इसका सार्वजनिक दायरे की सार्थकता और जीवंतता पर गहरा असर पड़ा। हैबरमास के अनुसार, सार्वजनिक दायरे में जनशक्ति का फिर से सामंतीकरण हुआ है। इसी के माध्यम से वह मुद्दे जो शासक वर्ग के लिए हितकारी हैं, सार्वजनिक मुद्दे बनाए जाते हैं – यानी असल में इसमें शासक वर्ग के फ़ैसलों पर आम लोगों से सिर्फ़ हामी भरवाई जाती है।[10]

भारत के संदर्भ में सार्वजनिक दायरे की अपनी कुछ ख़ास कमज़ोरियाँ रही हैं। गेल ऑम्वेट के अनुसार, सार्वजनिक दायरे का सवाल 'सिर्फ़ औपचारिक उपस्थिति या अजनबी लोगों के बीच संवाद का नहीं है बल्कि बराबर के लोगों के बीच बातचीत का है (जैसा पहले भी उल्लेख किया गया है)।
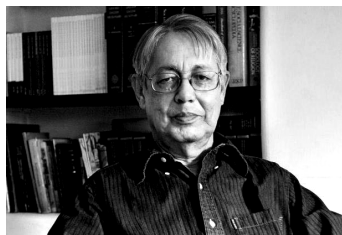
[7] नैंसी फ्रेज़र (1992).
[8] रोबिन जेफ्री (2009) : 252.
[9] युरगन हैबरमास (1992).
[10] वही.

इसे 'सार्वजनिक' बनाने के लिए व्यापक तौर पर उन नये मानवीय समूहों की रचना करना ज़रूरी है जो नये क़िस्म के सामाजिक मेल-जोल पर आधारित हों, जिसमें लोगों के बीच रोटी-पानी की सहभागिता हो। पर रूढ़िगत जाति समाज में इस तरह के मेल-जोल को हमेशा नियमों में बाँधने की कोशिश की गयी है और हतोत्साहित किया गया है'।[11]

यहाँ यह कहना ज़रूरी होगा कि सार्वजनिक दायरे की यह व्याख्या एक मानक / आदर्श के रूप में इस्तेमाल की जा रही है। तमाम चुनौतियों के बावजूद सार्वजनिक दायरे की अवधारणा जनतंत्र का एक अहम हिस्सा है जिसके ज़रिये नागरिक राज्य / सरकार के साथ एक सार्थक और रचनात्मक संबंध क़ायम कर सकते हैं।

मीडिया अनेक, रंग एक

मुख्यधारा का मीडिया जिसमें राज्य / सरकार द्वारा संचालित सार्वजनिक और निजी कॉरपोरेट दोनों मीडिया शामिल माने जाते हैं, अपनी पहुँच के कारण समाज में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यही कारण है कि इन्हें परम्परागत रूप से चौथा स्तम्भ माना जाता है जिसकी भूमिका राज्य तंत्र के तीनों स्तम्भों, यानी विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका पर लगाम कसने और संतुलित करने की है। यानी यह वही भूमिका है जो एक आदर्श और अर्थपूर्ण सार्वजनिक दायरा निभा सकता है। जहाँ एक तरफ़ राज्य / सरकार संचालित सार्वजनिक मीडिया, राज्य/सरकारी तंत्र का अभिन्न अंग है वहीं दूसरी तरफ़ निजी कॉरपोरेट मीडिया बाक़ी तीनों स्तम्भों से सैद्धांतिक तौर पर अलग है : इनकी आधारभूत चरित्र मुनाफ़ाख़ोरी का है। आइए, इन दोनों तथ्यों पर थोड़ा ग़ौर करते हैं।

कई मीडिया विश्लेषकों का मत है कि सार्वजनिक दायरे का विस्तार करने और उसे मज़बूत बनाने के लिए सार्वजनिक मीडिया बेहद ज़रूरी है। यह मत अपनी जगह पर बिल्कुल सही है। परंतु भारत में सार्वजनिक मीडिया कभी सही मायनों में सार्वजनिक नहीं रहा। इसके बजाय वह राज्य / सरकार का उपक्रम ज़्यादा रहा है। कहने को सार्वजनिक मीडिया संस्थान स्वायत्त है पर अभी भी सत्ताधारी शक्ति के राजनीतिक दबाव और हस्तक्षेप से मुक्त नहीं हैं। नियुक्तियों से लेकर कार्यप्रणाली तक, सरकार के ख़िलाफ़ खड़ा होने के लिहाज़ से सार्वजनिक मीडिया की स्थिति बेहद कमज़ोर रही है। उनसे सरकारी फ़ैसलों और नीतियों की आलोचना करने की उम्मीद नहीं की जा सकती। दूसरे शब्दों में, यह मीडिया जनता का पक्ष लेने में असमर्थ है। यह इसकी बड़ी कमज़ोरी है। इसी से जुड़ा एक और पहलू है, जो इतना ज़ाहिर नहीं है— वह है दर्शकों / नागरिकों की व्यक्तिपरकता (सबजेक्टिविटी) को, राज्य / सरकार के स्वरूप के अनुरूप, प्रभावशाली ढंग से ढालना। कई सवाल, जैसे आज हम एक 'अच्छा नागरिक' होने से क्या समझते हैं, 'आदर्श महिला' होने के क्या मायने हैं, इतिहास के कौन से रुख़ को किस प्रकार याद करते हैं, प्रगति / विकास की क्या परिभाषा है, हमारा देश / समाज में क्या स्थान है, आदि के जवाब सार्वजनिक मीडिया के अभिलेखागार में मिल जाएँगे। आज के समय में जो विषम सामाजिक संबंध हमें खटकने की बजाय सामान्य लगते हैं इसका एक बड़ा कारण यह है कि सार्वजनिक मीडिया ने उन्हें सालों-साल सामान्य ढर्रे की तरह दर्शाया है और उसे वैधता प्रदान की है।

देश या समाज को क्या दिशा लेनी है, कौन-सा मॉडल अपनाना चाहिए, यह निर्णय अमूमन जनता ने नहीं, बल्कि राज्य / सरकार ने लिया है। मसलन, बकौल विनीत कुमार 'माध्यम और ऑडियंस के बीच में एक मज़बूत अथॉरिटी बनी रही जो यह तय करती आयी की लोगों को किस तरह के कार्यक्रम दिखाने-सुनाने चाहिए जिनसे उनका, समाज का और देश का विकास हो सके। नतीजतन जो कार्यक्रम प्रसारित हुए वह चाहे कला, संस्कृति, राजनीति या इतिहास से संबंधित हों या फिर

[11] गेल ऑम्वेट (2003) : 141.

मनोरंजन, खेल और परिचर्चा से, सब में यह समझ काम करती रही। मूल्य, नैतिकता और सरोकार के सवाल इनमें अनिवार्य रूप से जुड़े रहे'।[12]

सर्वोच्च न्यायालय ने 1995 के अपने एक ऐतिहासिक फ़ैसले में एयरवेव्ज को सार्वजनिक सम्पत्ति क़रार देते हुए इस अवस्था पर सटीक टिप्पणी की थी :

> ...राय, मत, विचार और विचारधारा की विविधता एक नागरिक को अपने से जुड़े सभी मुद्दों पर सुविज्ञ समझ बनाने के लिए बहुत ज़रूरी है... यह कोई भी एकाधिकारी माध्यम नहीं प्रदान कर सकता — चाहे एकाधिकार राज्य का हो या किसी व्यक्ति, समूह या संस्था का। प्रसारण मीडिया, जो सरकार से साफ़ तौर पर अलग हो, जनता के नियंत्रण के अंतर्गत होने चाहिए।'[13]

निजी कॉरपोरेट मीडिया[14] की भी स्थिति लगभग यही है। यहाँ पर राजनीतिक नियंत्रण / हस्तक्षेप की जगह मुनाफ़े ने ले ली है। इस बात को थोड़ा और साफ़ कर देना होगा क्योंकि निदेशक सिद्धांत भले ही भिन्न हों, यह विभाजन शायद थोड़ा अस्पष्ट है। निजी कॉरपोरेट मीडिया भी राजनीतिक हस्तक्षेप / नियंत्रण से सुरक्षित नहीं है। राजनीतिक दलों और राजनेताओं के निजी कॉरपोरेट मीडिया से व्यावसायिक संबंध रहे हैं।[15] कई मीडिया उद्यमी भी राजनीति में उतरे हैं। दूसरी ओर, सार्वजनिक मीडिया में भी वाणिज्यिक कारणों को वरीयता मिली है। यूँ तो आम राय यह है कि उपभोक्तावाद नौवें दशक में उद्घाटित नवउदारवादी व्यवस्था का एक परिणाम है जिसे निजी कॉरपोरेट मीडिया ने बढ़ावा दिया पर यहाँ यह याद दिलाना ज़रूरी होगा कि दूरदर्शन ने उससे कहीं पहले उपभोक्तवाद को दर्शकों के बीच समाविष्ट करना शुरू कर दिया था। मिसाल के लिए लोकप्रिय पारिवारिक धारावाहिक *हम लोग,* जिसका मुख्य उद्देश्य सामाजिक जागृति और परिवर्तन था, को तक़रीबन पाँच करोड़ दर्शक देखते थे। शायद उसके ही बूते कार्यक्रम के मुख्य प्रायोजक मैगी नूडल्स की बिक्री जो कि 1982 में न के बराबर थी, 1984 तक 5,000 टन हो गयी थी। मैगी नूडल्स की सफ़लता ने 'न सिर्फ़ पैकेज्ड खाने को भारत में स्वीकार्य बनाया बल्कि उसकी सरल और आधुनिक छवि के चलते मध्यवर्गीय दर्शकों के लिए इच्छित खाद्य भी बना दिया'।[16]

इस समागम के राजनीतिक अर्थशास्त्रीय विश्लेषण से दो बातें सामने आती हैं। एक, पूँजीवादी व्यवस्था में जनतांत्रिक प्रक्रियाओं पर उच्च सामजिक-आर्थिक वर्ग का प्रभाव काफ़ी पुख़्ता है जिसके ज़रिये वह जन-संवाद और सम्मति का निर्माण / उत्पादन करने की क्षमता रखते हैं[17] — ज़ाहिर है कि इस प्रकार के संवाद और सम्मति से उनके अपने हित संरक्षित होते हैं। दूसरा, यथास्थिति बनाए रखने में सार्वजनिक मीडिया और कॉरपोरेट मीडिया दोनों ही सह अपराधी हैं। दोनों ही जनता की आवाज़ को नज़रअंदाज़ करते हैं और ख़ुद अपने आप में, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर, एक राजनीतिक शक्ति बन कर जनता पर क़ाबिज हो जाते हैं। मीडिया और राजनीति के कई शोधकर्ताओं का मानना है कि मुख्यधारा का मीडिया 'राजनीतिक और मध्यस्थ संस्थाओं को दरकिनार कर राजनीतिक तंत्र में नागरिक भागीदारी की क्षमता को कमज़ोर करता है'।[18] या वह ख़ुद शासन तंत्र का अंग बनने लगता है जिसकी मुख्य भूमिका 'सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने की होती है'।[19] सार्वजनिक

[12] विनीत कुमार (2012) : 50.

[13] (1995), *यूनियन ऑफ़ इंडिया एवं क्रिकेट एसोसिएशन ऑफ़ बंगाल* : 105.

[14] यह मुनाफ़ा कमाने वाला व्यवसाय ज़रूर है, लेकिन साथ ही सार्वजनिक दायरे का भी हिस्सा है क्योंकि जहाँ तक सुविज्ञ जाँच-परख (इनफ़ॉर्म्ड इंक्वायरी) का सवाल है, यह नागरिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है.

[15] निजी कॉरपोरेट मीडिया और राजनीतिक दलों/नेताओं में संबंधों के लिए परंजय गुहा ठाकुरता (2015) का लेख देखें. इसमें चेन्नई स्थित सन ग्रुप का विस्तृत विश्लेषण है.

[16] पूर्णिमा मानकेकर (1999) : 81.

[17] यह शोध का विषय है कि दर्शकों पर मीडिया के क्या-क्या प्रभाव हो सकते हैं. पर यहाँ कहना ज़रूरी होगा कि आज बड़ी संख्या में मीडिया के शोधकर्ताओं और विश्लेषकों में सहमति है कि मीडिया, आम धारणा के विपरीत, सर्वशक्तिमान नहीं है और दर्शक भी अलग-अलग तरीक़ों से मीडिया पर अपना प्रभाव डालते हैं.

[18] थॉमस मेयर (2002) : 139.

[19] बिल कुक (2005) : 15.

दायरे को सुगम बनाने या उसे प्रोत्साहन देने की बजाय मुख्यधारा की मीडिया इसका स्थान लेना चाहता है, अलग-अलग लोगों का सम्मिश्रण करना चाहता है, और सत्ता का केंद्रीकरण करना चाहता है। राजनीतिक प्रक्रियाओं और दायरों पर कब्ज़ा जमाना उसका अंतर्भूत स्वभाव है।

उदारपंथी सोच और हलक़ों में, जहाँ मीडिया की परिकल्पना सामाजिक दायरे के बजाय विचारों के एक बाज़ार के रूप में की जाती है, इस समस्या को सुलझाने के लिए मीडिया सुधार का नुस्ख़ा आगे किया जाता है। उसमें ज़्यादातर सतही बदलाव की— जैसे मुख्यधारा की मीडिया के कार्यक्रम निर्माताओं में समाज के ग़रीब, कमज़ोर और अधिकारहीन तबक़ों के प्रति जो जड़ता है वह मीडियाकर्मियों की व्यक्तिगत सोच / कमज़ोरियों का नतीजा है न कि समाज में दिन-ब-दिन बिगड़ते संरचनात्मक असुंतलन का। इस लेखक के अपने पत्रकारीय अनुभव में ऐसा कई बार हुआ है कि आलोचनात्मक और संवेदनशील दृष्टिकोण को सम्पादकों ने निरुत्साहित किया। यह इसलिए नहीं होता कि सम्पादकगण सामाजिक मुद्दों के प्रति व्यक्तिगत रूप से असंवेदनशील थे, आम तौर पर यह इसलिए होता है क्योंकि मुख्यधारा की मीडिया की भूमिका राजनीतिक और वाणिज्यिक तौर पर बहुत ही सख़्ती से परिभाषित है।

टेक्नोलॉजी और सूचना प्रौद्योगिकी के लोकतंत्रीकरण के चलते आज मुख्यधारा के मीडिया के समक्ष विकल्प खड़े करना ज़्यादा मुमकिन हुआ है। डॉक्यूमेंट्री फ़िल्म, ऑनलाइन न्यूज़ पोर्टल्स, सोशल मीडिया नेटवर्क्स-जैसे माध्यमों की आमद के बाद आज हम पहले से कहीं ज़्यादा मीडिया संतृप्त परिवेश में रहते हैं। मीडिया नीति में बदलाव के कारण कम्युनिटी रेडियो-जैसे उपक्रम भी सम्भव हुए हैं, हालाँकि यह कितने 'वैकल्पिक' हैं इस पर बहस जारी है। पहले जिन जगहों के नाम सिर्फ़ ऑल इंडिया रेडियो के फ़रमाइशी गीतों के कार्यक्रम में सुनाई पड़ते थे, आज कोशिश करने पर उन जगहों की ख़बरें भी मिल जाती हैं। तो क्या इस बदलते परिवेश से यह मतलब निकाला जा सकता है कि आज सार्वजनिक दायरे में ज़्यादा लोग भाग लेने लगे हैं? अगर उदार नज़र से देखा जाए तो इसका जवाब हाँ में मिलेगा। पहले मुख्यधारा के मीडिया में जिन मुद्दों को न के बराबर जगह दी जाती थी, आज उन पर ख़ासी बहस हो रही है। आज सामाजिक और आर्थिक न्याय के मुद्दों पर, रूढ़िवादी और दक़ियानूसी विचारधाराओं की आलोचना और विरोध और सरकारी काम-काज पर लगातार टीका-टिप्पणी हो रही है। लेकिन, सही परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जाए तो सार्वजनिक दायरे में आयी इस तब्दीली के साथ साधन की उपलब्धता को लेकर कुछ अप्रिय सवाल भी उठते हैं।

एक सच्चे और अर्थपूर्ण सार्वजनिक दायरे की एक बड़ी शर्त है समावेशिता जो अधिकांश वैकल्पिक मीडिया[20] उपक्रम पूरा करते नहीं दिखते। सार्वजनिक दायरा और सिविल सोसाइटी दोनों ही राज्य शक्ति के बाहर गठित होते हैं, पर फ़र्क़ यह है कि जहाँ पहला सभी के लिए और सभी प्रकार के मुद्दों के लिए खुला रहता है वहीं दूसरा समूह एक निजी समूह है जहाँ लोग अपने सीमित उद्देश्यों को पूरा करने के लिए जुड़ते हैं। इसका यह मतलब क़तई नहीं है कि सार्वजनिक दायरा और सिविल सोसाइटी दो बिल्कुल अलहदा जन समूह हैं। हमारा ज़ोर केवल इस बात पर है कि दोनों की रचना और कार्य पद्धति में फ़र्क़ है। सिविल सोसाइटी का गठन जनतांत्रिक तरीक़ों से नहीं होता, न ही वह हमेशा सार्वजनिक भलाई के लिए काम करता है। मिसाल के तौर पर, रेजिडेंट्स वेलफेयर एसोसिएशंस आवासीय परिसरों के प्रवेश द्वार पर सुरक्षा गार्डों और खुफ़िया कैमरों की व्यवस्था करके अपनी विशेष भूमिका की ओर इंगित करते हैं। कई सिविल सोसाइटी संगठन जनहित का काम करते हैं पर उस काम में सिर्फ़ कुछ चुनिंदा और अंदर के लोग ही भाग लेते हैं।[21] अगर मुख्यधारा का मीडिया केवल सरकार

[20] वैकल्पिक मीडिया का अर्थ यहाँ मीडिया के उन रूपों से है जो सिविल सोसाइटी के स्वामित्व और संचालन के अंतर्गत आते हैं. वैकल्पिक मीडिया और सामुदायिक मीडिया में एक सबसे बड़ा फ़र्क़ यह है कि सामुदायिक मीडिया में उत्पादन के साधन लोगों के अधीन होते हैं.

[21] माइकेल वार्नर (2001).

और पूँजीपति वर्ग के विचार व विचारधाराओं का प्रचार करता रहे तो वह जल्दी ही अपनी वैधता खो देता है। एक सच्चे जनतंत्र में सार्वजनिक दायरे से निकली समझ सिविल सोसाइटी की सोच और गतिविधियों में प्रतिबिम्बित होनी चाहिए और उसके बाद सरकार / राज्य तंत्र की क्रियाओं में।

इसका एक अन्य उदाहरण ग़ैर-सरकारी संगठन में देखा जा सकता है। आज की आम राय यह है कि ऐसे संगठन चाहे जितना अच्छा काम करते हों, लेकिन इनके सोचने और काम करने की प्रक्रियाएँ जनतांत्रिक नहीं होतीं। स्वस्थ सार्वजनिक दायरे के लिए यह ज़रूरी होता है कि आम मुद्दों से संबंधित फ़ैसले लोगों के बीच लिए जाएँ। लेकिन, ज़्यादातर ग़ैर-सरकारी संस्थान इस भावना का सम्मान नहीं करते। अमूमन यह होता है कि लोगों से जुड़े मुद्दों के फ़ैसले कुछ लोग ही लेते हैं— प्रायोजक या विशेषज्ञ — और उन फ़ैसलों को लोगों के बीच तामील कर दी जाती है। ऐसा कहने में यह मंशा बिल्कुल नहीं है कि ये फ़ैसले लोगों के लिए फ़ायदेमंद नहीं होते, दलील यह है कि ये फ़ैसले लोगों द्वारा नहीं लिए जाते। अगर मीडिया लोगों की भौतिक और सामाजिक स्थिति से अनभिज्ञ है तो जनता के लिए उसका कोई अर्थ नहीं होता। असल में लोगों की भागीदारी के बिना 'अच्छा' प्रभावशाली मीडिया बनाना बहुत ही आसान है। मुश्किल काम ये है कि वह सहभागी संस्कृति का वाहक कैसे बने और सामाजिक और राजनीतिक चुनौतियों के प्रति अपना दायित्व कैसे पूरा करे।

सहभागिता पर ज़ोर देने वाले ग़ैर-सरकारी संगठन भी सार्वजनिक दायरे के मानदण्डों पर खरे नहीं उतरते। उनकी परियोजनाएँ में सहभागिता को तरजीह दिये जाने और लाभार्थियों के हस्तक्षेप की घोषणा तो की जाती है परंतु उनका क्रियान्वयन प्रायोजकों द्वारा द्वारा तय की गयी सीमाओं के भीतर ही किया जाता है। अकसर इन परियोजनाओं के लाभार्थी भी प्रायोजकों की इच्छानुसार काम करते दिखाई पड़ते हैं।[22] प्राय: सहभगिता पद्धति अपनाने वाले संगठनों में न लाभार्थी समूह के भीतर न केवल शक्ति के असमान संबंध सक्रिय रहते हैं, बल्कि उनके कामकाज की शैली में ऐसे संबंधों को बढ़ावा भी दिया जाता है— यानी सामाजिक-आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों के लोग इस तरह के हस्तक्षेपों में भी अपने आप को हाशिये पर पाते हैं।[23] प्रभाव और नियंत्रण की यह संरचना वैकल्पिक मीडिया की परिवर्तनकारी क्षमता पर नकारात्मक प्रभाव डालती है। सामुदायिक रेडियो के क्षेत्र में यह प्रवृत्ति

[22] डेविड मूज़ (2001).

[23] फ्रांसेस क्लीवर (2001).

सरकारी नीतियों के चलते पनपी है। दरअसल, सरकारी नीतियों में यह हदबंदी बहुत साफ़ है कि कौन क्या कर सकता है और क्या नहीं। इन नीतियों के पीछे मीडिया का वही पुराना दम्भपूर्ण सिद्धांत काम करता है कि मीडिया 'अबोध जनसमूह' का शिक्षण करता है।[24] वैकल्पिक मीडिया के संदर्भ में समावेशिता के और भी मायने हैं, जिसका एक बड़ा भाग टेक्नोलॉजी से जुड़ा है। आम तौर पर लोगों की भागीदारी सिर्फ़ कार्यक्रम के निर्माण तक ही रहती है। उन्हें टेक्नोलॉजी की समझ बनाने और उसकी देख-रेख करने का मौक़ा नहीं दिया जाता। इसका नतीजा यह होता है कि टेक्नोलॉजी में ख़राबी आने की सूरत में लोगों को एक-दूसरे का मुँह देखना पड़ता है। ऐसे में, जब तक बाहर का विशेषज्ञ आकर समस्या को हल नहीं कर देता तब तक बात आगे नहीं बढ़ पाती।

संस्थाओं के निर्माण पर अत्यधिक ज़ोर देने के कारण भी बहुत से लोग वैकल्पिक मीडिया के दायरे से बाहर हो जाते हैं। पलायन तथा कामकाज में सूचना प्रौद्योगिकी द्वारा संचालित असाधारण परिवर्तनों के चलते आज लाखों लोग लॉजिस्टिक्स (ऑनलाइन शॉपिंग, टैक्स एग्रीगेटर्स, इत्यादि) में कार्यरत हैं। रोज़गार की असुरक्षा के कारण इनमें ज़्यादातर लोग एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाने को भी मजबूर रहते हैं। अपने शोध के सिलसिले में इस लेखक की अकसर ऐसे कई लोगों से मुलाक़ात होती रहती है जो कई तरह की छोटी निर्माण इकाइयों, कॉल सेंटर, ड्राइविंग, सुरक्षा गार्ड्स, डिलीवरी सर्विसेज़-जैसी नौकरियों के बीच घूमते रहते हैं। इस गतिमान आबादी को एक स्थिर वैकल्पिक मीडिया की कल्पना किस तरह प्रोत्साहन या समर्थन दे सकती है? इन लोगों के पास संचार के सीमित आयाम होते हैं। अकसर राज्य / सरकार और कई बार सिविल सोसाइटी की नज़रों में संचार के ऐसे रूप और तरीक़े अवैध या अनैतिक होते हैं। 'दकियानूसी' या 'मसालेदार' फ़िल्म और टीवी कार्यक्रमों का पायरेसी द्वारा 'ग़ैरक़ानूनी' वितरण इसी श्रेणी में आता है।

सस्ते मोबाइल फ़ोन, मेमोरी कार्ड और प्रीपेड डेटा प्लान ने मीडिया की पहुँच का अभूतपूर्व विस्तार किया है। इससे सामाजिक दायरे के स्वरूप में कुछ निश्चित बदलाव आये हैं। आज मीडिया की इस पहुँच के कारण ऐतिहासिक रूप से दमित और बहिष्कृत समूहों और हलक़ों की आवाज़ें व्यापक समाज में सुनाई पड़ने लगी हैं। अब एक ऐसी नयी सहभागी संस्कृति का विकास हो रहा है जिसे एक हद तक पुरानी बाध्यताओं से मुक्त कहा जा सकता है। इस सहभागी संस्कृति में मीडिया की रचनात्मक आलोचना से लेकर मीडिया से संघर्ष और ख़ुद का मीडिया बनाने जैसी गतिविधियाँ भी शामिल है।[25] हालाँकि चरमराते बुनियादी ढाँचे और सामाजिक प्रतिबंध इत्यादि के चलते आज भी अधिकांश लोग ज्ञान और राजनीति के क्षेत्र से कटे हुए हैं किंतु अब लोगबाग इन समस्याओं को अपने बूते पर सुलझाने लगे हैं। इस संदर्भ में कुछ उदाहरणों पर नज़र डालना मुनासिब होगा : मसलन, बरेली, उत्तर प्रदेश के एक गाँव में बिजली के अभाव में 12 वोल्ट की बैटरी को पहले जेनरेटर से चार्ज किया जाता है और फिर उसका इस्तेमाल लैपटॉप और फ़ोन चलाने के लिए किया जाता है। 18 से 200 रुपये में अनलिमिटेड इंटरनेट प्लान मिलते हैं। मोबाइल फ़ोन अब बात करने का ही साधन नहीं रह गया है, बल्कि अब उसका टेलीविज़न और कम्प्यूटर के विकल्प के रूप में भी इस्तेमाल हो रहा है।[26] महाराष्ट्र के धुले ज़िले में गाने, वीडियो और फ़िल्मों को मोबाइल फ़ोन पर देखने का ख़ूब प्रचलन है। इन चीज़ों को एक छोटी-सी रक़म के एवज़ में इंटरनेट से डाउनलोड करके लोगों के मोबाइल फ़ोन में ट्रांसफ़र कर दिया जाता है। मीडिया के ऐसे इस्तेमाल और प्रचार-प्रसार में दलित-बहुजन काफ़ी सक्रिय हैं। इसके ज़रिये वे समाज की उस जाति-आधारित संरचना को चुनौती दे रहे

[24] विनोद पवराला (2013).
[25] हेनरी जेनकिंस तथा अन्य (2009).
[26] रवीश कुमार (2013).

हैं जिसमें ज्ञान पर सख़्त नियंत्रण रखा जाता है।[27] इस जुगाड़ू प्रवृत्ति ने सहभागी संस्कृति में नयी जान फूँक दी है। यह साधनों के अभाव में काम चलाने की प्रवृत्ति को गौरवान्वित करने और डिजिटल डिवाइड[28] की सच्चाई पर लीपापोती करने की कोशिश नहीं है क्योंकि सूचना और मनोरंजन के स्रोतों और साधनों से देश की अधिकतम आबादी अभी भी दूर हैं। इसके ज़रिये हम केवल लोगों की बढ़ती क्षमता और विचारों के प्रवाह में उनकी भागीदारी की ओर इशारा करना चाहते हैं। क्या जुगाड़ की यह रणनीति राजनीति में सोच और व्यवहार के नये मुक़ामों का पता देती है? क्या इसे इस बात का प्रमाण माना जा सकता है कि जब लोगों को औपचारिक समाधान नहीं मिलता तो वे समाधान करने वालों का इंतज़ार न करके ख़ुद ही सहभागिता के मौक़े ढूँढ़ लेते हैं?

डॉ. रतन लाल ने इस आयाम को अपने निजी अनुभव के ज़रिये साझा किया है :

> ... दलित / आदिवासी उत्पीड़न के मामले अमूमन मुख्यधारा के मीडिया में कभी सुर्खियाँ हासिल नहीं कर पाते। इसलिए उन्होंने सोशल मीडिया को ही अपना वैकल्पिक हथियार बनाया...17 जनवरी, 2016 को रोहित ने 'आत्म-हत्या' की — एकाध चैनल और अख़बारों को छोड़कर मुख्यधारा के सभी अख़बार और चैनल मौन रहे। यूथ फ़ॉर बुद्धिस्ट इंडिया द्वारा 23 जनवरी को जंतर-मंतर पर पहली बड़ी जनसभा आयोजित की गयी। उसमें बतौर वक्ता मैं भी शामिल था। मेरे सहित कई साथियों के वक्तव्य को सैंकड़ों लोगों ने फ़ेसबुक पर लाइव किया। स्मार्टफ़ोन, इंटरनेट और फ़ेसबुक, यूट्यूब और व्हाट्सएप के गठजोड़ ने एक ऐसी ख़बर और घटना को अंतर्राष्ट्रीय बना दिया, जिसे भारत में मुख्यधारा का ज़्यादातर मीडिया उल्लेख करने लायक़ भी नहीं समझ रहा था। इसके बाद इस घटना पर भारत भर में छोटे-बड़े कई प्रदर्शन हुए। जंतर-मंतर वाला प्रदर्शन तो अप्रत्याशित ही था — पहली बार किसी दलित छात्र की कथित आत्म-हत्या के मामले में लोगबाग हज़ारों की संख्या में प्रतिरोध मार्च निकालने पहुँचे।[29]

हंस पत्रिका के सितम्बर 2018 के सोशल मीडिया विशेषांक के तक़रीबन हर लेख में लगातार उभरती और बदलती इस तहरीक के तमाम पहलुओं का आलोचनात्मक विश्लेषण किया गया है। विशेषांक के सम्पादकीय लेख में इस मज़बूती और नयी ऊर्जा के आने का श्रेय 'तकनीक, भाषा, विचार, वितरण और सामग्री उत्पादन' के नये समीकरण को दिया है। लेख के अनुसार इंटरनेट और डिजिटल मीडिया से जुड़ते हुए लोग अब :

> ... बिना किसी भारी-भरकम दावे के धड़ल्ले से लिखते हैं। लोगों के लिए भाषा और प्रौद्योगिकी, उत्पादन और वितरण, शाब्दिक
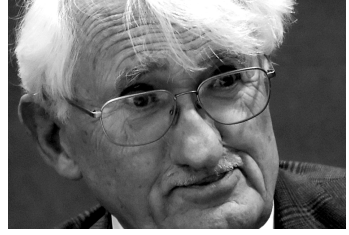
सार्वजनिक दायरे की परिकल्पना यूँ तो बाज़ार अर्थव्यवस्था और राज्य तंत्र द्वारा आम जनजीवन पर होने वाले अतिक्रमण की काट करने के लिए की गयी थी। ... पर असल में ऐसा हो नहीं पाया। पूँजीवादी और नवउदारवादी व्यवस्थाएँ जैसे-जैसे सशक्त होती गयीं, वैसे-वैसे संस्कृति / तहज़ीब का तेज़ी से बाज़ारीकरण होने लगा। इसका सार्वजनिक दायरे की सार्थकता और जीवंतता पर गहरा असर पड़ा। हैबरमास के अनुसार, सार्वजनिक दायरे में जनशक्ति का फिर से सामंतीकरण हुआ है। इसी के माध्यम से वह मुद्दे जो शासक वर्ग के लिए हितकारी हैं, सार्वजनिक मुद्दे बनाए जाते हैं, यानी असल में इसमें शासक वर्ग के फ़ैसलों पर आम लोगों से सिर्फ़ हामी भरवाई जाती है।

[27] शिवा थोराट (2016).

[28] डिजिटल डिवाइड : समुदायों या क्षेत्रों के बीच इंटरनेट की पहुँच या उसे समझने और उसके संचालन की दक्षता व कौशल में निहित अंतर. यह अंतर प्राय: समाज में मौजूद ग़ैर-बराबरी का संकेतक होता है.

[29] रतन लाल (2018) : 146.

अभिव्यक्ति और ऑडियो-वीडियो प्रयोग अलग-अलग चीज़ें नहीं हैं। इतना ही नहीं, उनकी शिकायत यदि पारम्परिक माध्यमों में छपी चीज़ों को लेकर है, आसपास की दुनिया से है तो वे इन सब से ना तो उदासीन उपभोक्ता हैं, ना ही पीड़ित की भूमिका में लाचार नागरिक। वह प्रोज़्यूमर की भूमिका में इस हद तक सक्रिय हैं कि धीरे-धीरे पाठ सामग्री और गतिविधियों के वे ब्योरे आने लग गये जो अब तक कई बार समाचारपत्र-पत्रिकाओं के दफ़्तर में सम्पादकों और पुलिस थानों में एसएचओ की इच्छा-अनिच्छा के अधीन होकर कराहते हुए दम तोड़ देते। माध्यम से लेकर संस्थानों की गतिविधियाँ अब एकतरफ़ा एकालाप ना होकर बहुस्तरीय, बहुविध वितरण एवं उत्पादन की चीज बनती चली गयी हैं।'[30]

कुछ कहें, कुछ करें

सामुदायिक मीडिया के निर्माण और नियंत्रण में समुदाय की भूमिका केंद्रीय होती है। दूसरे शब्दों में समुदायों के उभार में मीडिया प्रचार-प्रसार की काफ़ी अहमियत होती है। समुदाय अमूमन बने-बनाए नहीं होते बल्कि उन्हें गोलबंद और गतिमान करना पड़ता है। समुदाय एक जगह पर रहनेवाले लोगों के हो सकते हैं या उनका गठन आम सरोकार के इर्द-गिर्द भी किया जा सकता है। इनकी संरचना पदक्रम की बजाय क्षैतिज संबंधों पर आधारित होती है। समुदाय लीडरी और प्रतिनिधित्व पर ज़ोर देने वाली कार्यप्रणालियों से दूर रहते हैं; यानी किसी भी प्रक्रिया में सिर्फ़ एक या दो लोगों या अधिकारी तंत्र के बजाय सभी लोगों की भागीदारी होती है। सामुदायिक मीडिया के काम के हर पहलू में सामुदायिक स्वायत्तता का खास ख़याल रखा जाता है। सामुदायिक मीडिया का विकास मीडिया के जनतंत्रीकरण— यानी कॉरपोरेट या राज्य संचालित सार्वजनिक मीडिया से अलग एक वैकल्पिक जनमाध्यम तैयार करने की ज़रूरत से हुआ है। इसका मुख्य उद्देश्य जनसाधारण से जुड़े राजनीतिक मुद्दों का इज़हार करना है— चाहे वह अपनी सकारात्मक पहचान क़ायम करने के लिए हो या संसाधनों के पुनर्वितरण के लिए। इसके तहत मुद्दों का एजेंडा समुदाय के सदस्यों द्वारा तय किया जाता है। इस तरह के मीडिया उपक्रम सहभागिता की संस्कृति पर आधारित होते हैं। इसमें समुदाय के सभी लोग अपने विचार रख सकते हैं, दूसरों के साथ जुड़ कर उन्हें साझा कर सकते हैं, सीख और सिखा सकते हैं।[31]

मसलन, होंडा मोटरसाइकिल और स्कूटर इंडिया (एचएमएसआई), अलवर, राजस्थान के 3000 मज़दूर कई महीनों से कम्पनी प्रबंधन के विरुद्ध संघर्षरत हैं। मज़दूरों ने आपसी मतभेदों को दरक़िनार करते हुए 2015 में यूनियन बनाने की कोशिश की। प्रबंधन ने इस कोशिश को हर तरीक़े से विफल करने का प्रयास किया जिसके चलते 800 से ज़्यादा मज़दूरों को निकाल दिया गया और कई मज़दूरों को बरख़ास्त कर दिया गया। एक ठेका मज़दूर ने तीन दिन लगातार ओवरटाइम करने बाद जब चौथे दिन 16 फ़रवरी, 2016 को तबियत ख़राब होने की वजह से ओवरटाइम करने से मना कर दिया तो सुपरवाइजर ने उसके साथ मार-पीट और गाली-गलौज की। इस घटना के विरोध में 2000 मज़दूरों ने काम रोक दिया। इस पर प्रबंधन के बाउंसर्स और पुलिस ने मज़दूरों की पिटाई कर दी। इस हमले में 60-70 मज़दूर गम्भीर रूप से ज़ख़्मी हुए और दमन का यह सिलसिला कई दिनों तक चलता रहा। कई मज़दूरों के ख़िलाफ़ मामले दर्ज हुए और उन्हें गिरफ़्तार किया गया और कइयों को बरख़ास्त कर दिया गया। बाद में इकट्ठे प्रदर्शन की कोशिशों को भी प्रबंधन और पुलिस ने मिलकर नाकाम कर दिया। मुख्यधारा के मीडिया ने इस घटना को न के बराबर जगह दी और अगर दी भी तो जैसा कि ऐसे मामलों में होता है, प्रबंधन का पक्ष आगे रखा।

---

[30] रविकान्त और विनीत कुमार (2018) : 9.
[31] हेनरी जेनकिंस तथा अन्य (2009).
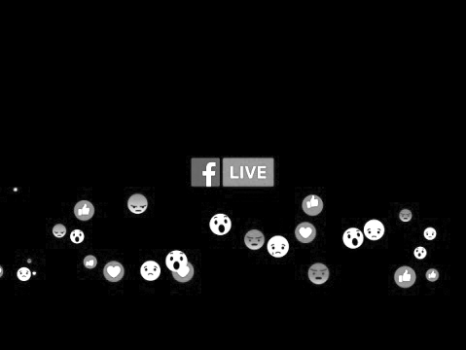
मज़दूरों का यह संघर्ष जितना यूनियन बनाने और सामूहिक सौदेबाज़ी या काम के बेहतर हालात के बारे में है उतना ही वैचारिक / सैद्धांतिक भी है। ऐसे संघर्षों में मुख्यधारा का मीडिया आम तौर पर पूँजीवादी वर्ग / प्रबंधन के साथ रहता है। ख़बरों में ज़्यादा ज़ोर कम्पनी के नुक़सान पर रहता है न कि मज़दूरों के अधिकारों के हनन पर। ख़बरों में कहा जाता है कि मज़दूरों के कारण देश की छवि दुनिया में ख़राब हो रही है। मज़दूरों को हिंसक दर्शाया जाता है जिनके पास मानो अपनी राय व्यक्त करने के लिए हिंसा के अलावा कोई और रास्ता नहीं है। एचएमएसआई के मज़दूरों ने समाज के सामने सही तस्वीर रखने के लिए सोशल मीडिया का सहारा लिया, पुलिसिया दमन के वीडियो और तस्वीरें सोशल नेटवर्किंग साइट्स पर डालीं, आसपास के इलाक़ों में पर्चे बाँटे और अपनी तमाम कार्यवाहियों की सूचना सोशल नेटवर्किंग साइट्स पर बराबर दीं ताकि इलाक़े के अन्य मज़दूरों, एक्टिविस्टों और पत्रकारों तक सही ख़बर पहुँच सके। इकट्ठा होकर प्रदर्शन न कर पाने के बाद मज़दूरों की एक टोली ने काँवड़ यात्रा शुरू की, यह सोचकर कि शायद 'भोले-भक्तों' के इस जुलूस को प्रबंधन और पुलिस नहीं रोकेगी। पर ऐसा हुआ नहीं, राजस्थान की सीमा में घुसते ही उन्हें आगे बढ़ने से रोक दिया गया।

दूसरा उदाहरण उपनगरीय मुंबई में मलाड-मालवणी की अम्बुजवाड़ी बस्ती से है। यहाँ रह रहे 3000 से ज़्यादा परिवारों का उस ज़मीन पर मालिकाना हक़ नहीं है जिस पर उनके घर हैं। उन्हें हमेशा इस बेदख़ली का डर रहता है। उन्हें बिजली का कनेक्शन तो मिल गया है पर पानी की आपूर्ति उनके लिए एक भारी समस्या है। बॉम्बे हाई कोर्ट के आदेश के बाद भी म्युनिसिपल कॉरपोरेशन अम्बुजवाड़ी जैसी 'ग़ैर क़ानूनी' बस्तियों को मान्यता नहीं देता। पानी या तो टैंकरवालों से ख़रीदा जाता है या दूर से पीपों में भर कर किराये की साइकिलों पर लाद कर लाया जाता है। एक परिवार यहाँ औसतन हर महीने 1000-1500 रुपये पानी पर ख़र्च करता है जो इस शहर के किसी भी मध्यमवर्गीय परिवार के व्यय से तीन से पाँच गुना ज़्यादा बैठता है। यहाँ स्वास्थ्य, शिक्षा और अन्य प्राथमिक नागरिक सुविधाओं का भी घोर अभाव है।

मुम्बई स्थित टाटा इंस्टीच्यूट ऑफ़ सोशल साइंसेज (टीआईएसएस) के पोस्ट-ग्रेजुएट डिप्लोमा इन कम्युनिटी मीडिया (पीजीडीसीएम) के छात्रों ने अम्बुजवाड़ी और मुम्बई के अन्य इलाक़ों की नागरिक समस्याओं में जन भागीदारी बढ़ाने के लिए कार्यरत यूथ फॉर यूनिटी ऐंड वोलंटरी एक्शन (युवा) की मदद से स्थानीय समूह मालवणी युवा परिषद (एमवीपी) के साथ सामुदायिक मीडिया का काम शुरू किया। यह काम एक वर्कशॉप के साथ शुरू हुआ। वीडियो के विषय तय करने से लेकर पटकथा लेखन का समूचा काम सामूहिक स्तर पर किया गया। दोनों ही समूह के छात्रों ने फ़ैसला किया कि वे टीआईएसएस द्वारा मुहैया कराये गये हैंडीकैम पर शूट करेंगे जिससे एमवीपी के छात्र आसानी से शूटिंग सीख पाएँगे और बाद में अन्य कैमरों का भी इस्तेमाल कर सकेंगे। एमवीपी सदस्यों ने फिर अगले दो दिनों में चार चुने हुए मुद्दों पर छोटे-छोटे वीडियो बनाए जिनमें उन्होंने हैंडीकैम से शूट किये हुए फुटेज के अलावा अपने मोबाइल फ़ोन की फुटेज और तस्वीरें इस्तेमाल कीं। इन सभी वीडियो की अम्बुजवाड़ी में स्क्रीनिंग हुई और इन्हें यू-ट्यूब पर अपलोड किया गया।[32] 'युवा' और 'एमवीपी' ने इन्हें अपनी जन भागीदारी की मुहिम में भी इस्तेमाल करने का फ़ैसला किया।

---

[32] उक्त वीडियो यहाँ देखा जा सकता है : http://goo.gl/Ax30gt.

इन दोनों स्थितियों में काफ़ी फ़र्क़ है जो अपने आप में महत्त्वपूर्ण है, लेकिन साथ ही कुछ समानताएँ भी हैं। प्रस्तुत लेख के संदर्भ में इस अंतर और समानता पर विचार करना ज़्यादा ज़रूरी है। पहला, मोटे तौर पर दोनों ही समुदाय अपने संसाधनों— विचार, कौशल, टेक्नोलॉजी के ज़रिये अपने संघर्ष को मीडिया की परिधि में लेकर आये। पहले मामले में एक्टिविस्ट्स और दूसरे में छात्रों ने उनके साथ काम तो किया पर उनकी भागीदारी सिर्फ़ इस पूरी प्रक्रिया में सहायक होने की भूमिका तक सीमित रही। यह सच है कि मदद की यह प्रक्रिया कभी भी उन्मुक्त और तटस्थ नहीं हो सकती— जितना भी सतर्क और संवेदनशील रहा जाए शक्ति-संबंध उसे प्रभावित करते ही हैं किंतु शायद इसका समाधान यह है कि शक्ति के ऐसे संबंधों को नकारने के बजाय उनके प्रति हमेशा जाग्रत रहा जाए। असमान शक्ति-संबंधों को नियमबद्ध करना या उन्हें सांस्थानिक रूप देना समुदायों के लिए एक दमघोंटू क़दम साबित होता क्योंकि उनका तमाम संघर्ष इसी के ख़िलाफ़ होता है।

ऐसे उपक्रम सामान्य तौर पर संस्था का रूप नहीं लेते, न ही ज़्यादा सुव्यवस्थित होते हैं। उनका कुल महत्त्व इसमें शामिल होने वाले लोगों की क्षमता बढ़ाने पर होता है। लेकिन उनका महत्त्व व्यक्तिगत गतिविधि से कहीं ज़्यादा होता है। जैसा कि हमने पहले भी उल्लेख किया है, इस परिवेश में दूसरों के साथ जुड़कर काम करने के विचार को बढ़ावा दिया जाता है। इसमें समुदाय के पास उपलब्ध साधनों— टेक्नोलॉजी, कौशल इत्यादि को ख़याल में रख कर रणनीति बनाई जाती हैं। इस मामले में सही टेक्नोलॉजी या विशेषज्ञ का इंतज़ार नहीं किया जाता। यहाँ पर मीडिया को सिर्फ़ एक साधन के तौर पर नहीं बल्कि एक मौलिक अधिकार के रूप में समझा जाता है।

सामुदायिक मीडिया के क्षेत्र में अलग-अलग समुदायों से जुड़कर काम करने वाले ऐसे लोगों की भूमिका सहयोगी की होती है। वैकल्पिक मीडिया के उलट ऐसे लोग ख़ुद किसी अलग मीडिया का निर्माण नहीं करते। वे समुदाय के लोगों के साथ सहयोग करते हैं, उन्हें प्रोत्साहन देते हैं और कभी-कभी उन्हें उत्तेजित भी करते हैं। मुद्दों की पहचान, शोध, रणनीति, मीडिया उत्पादन, इत्यादि सब समुदाय से जुड़े लोग ही करते हैं। इन प्रक्रियाओं में भाग लेने से समुदाय के लोगों में नयी समझ और चेतना का विस्तार होता है। मुद्दों की बढ़ती समझ और उन पर काम करने की ज़िम्मेदारी उन्हें अपने अधिकारों से परिचित कराती है। सामुदायिक मीडिया का काम मूल रूप से राजनीतिक है। इसकी जद्दोजहद मीडिया बना लेने से या मीडिया में जगह पा लेने पर ख़त्म नहीं हो जाती बल्कि इसमें मीडिया का परिवर्तन के एक औज़ार की तरह इस्तेमाल किया जाता है।

दोनों ही स्थितियों में मीडिया का इस्तेमाल राजनीतिक कार्य के लिए किया जा रहा है। सतही तौर पर लग सकता है कि दोनों समुदायों के संघर्ष तात्कालिक माँगों या ज़रूरतों पर आधारित हैं पर वास्तव में इन संघर्षों का क्षितिज काफ़ी विस्तृत है। यह उचित वेतन, काम और रिहाइश की बेहतर परिस्थितियों के साथ-साथ पहचान और सम्मान के संघर्ष का मंच है। आम धारणाओं के मुताबिक़ मज़दूर कामचोर होते हैं, हिंसक होते हैं, सोचने-समझने की शक्ति नहीं रखते, यूनियनें किसी काम की नहीं होतीं।[33] बस्तियाँ 'ग़ैर-क़ानूनी' होती हैं, शहर के ऊपर बोझ होती हैं, लोग वहाँ अपनी मर्ज़ी से रहते हैं, वग़ैरह। इन मिथकीय पहचानों को नकारना जिन्हें राज्य / सरकार, मीडिया और समाज ने इन समुदायों पर थोपा है इन समुदायों के संघर्ष का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू है। इसी संदर्भ में यह समझना भी ज़रूरी होगा कि जहाँ ज़्यादातर राज्य / सरकारी और सिविल सोसाइटी सामाजिक हाशिये पर रहने वाले लोगों को सिर्फ़ अपनी नेकनीयत मीडिया-संबंधी परियोजनाओं का 'निशाना' मात्र समझते हैं, सामुदायिक मीडिया के परिवेश में उन्हें ख़ुद अपनी ज़रूरतों को व्यक्त करने की आज़ादी मिलती है। मीडिया मानवविज्ञानी पायल अरोड़ा (2019) अपनी किताब— *द नेक्स्ट बिलियन यूज़र्स : डिजिटल लाइफ़ बियॉन्ड द वेस्ट* में कहती हैं कि विकासशील देशों में सामाजिक हाशिये पर रहने वाले

[33] विलियम प्युऐट (1992) तथा क्रिस्टोफ़र आर. मार्टिन (2004).

लोगों से कम ही पूछा जाता है कि मीडिया से उनकी क्या-क्या अपेक्षाएँ हैं। आम तौर मीडिया उन पर तरह-तरह की परियोजनाएँ थोपता रहता है। वह कभी ख़ुद से सवाल नहीं करता कि हाशिये के लोगों की ज़रूरतें समाज के अन्य समृद्ध लोगों से अलग क्यों होनी चाहिए? या मीडिया के 'सही' इस्तेमाल का बोझ उन पर ही क्यों होना चाहिए? बाक़ी लोगों की तरह उन्हें भी मीडिया से स्वतंत्र तौर पर जुड़ने का विकल्प क्यों नहीं दिया जाता?

तमाम लोगों के हक़ों को मारने की एक कारगर रणनीति है उनका अमानवीकरण करना— उनको राजनीतिक जीव न समझना।[34] उनको इस प्रकार सम्बोधित करना, पहचान में बाँधना, जैसे वे जानवर हों जो सोचने, समझने और बोलने के क़ाबिल नहीं हैं— सिर्फ़ शोर और हिंसा द्वारा अपने 'दर्द' की अभिव्यक्त कर सकते हैं। एक बार जब यह परिप्रेक्ष्य स्थापित कर दिया जाता है तो उनके साथ किये जाने वाले अमानवीय सुलूक़ को जायज़ ठहराया दिया जाता है। ऐसे में काम की रणनीति को बदलना ज़रूरी हो जाता है ताकि 'जो अभी तक अदृश्य था वह प्रत्यक्ष होने लगे और जिनको अभी तक शोर मचाने वाले जानवर की तरह देखा जाता था, उन्हें वक्ता के रूप में' आगे बढ़ाया जाए।[35] ज़ाहिर है कि ऐसे में हमें एक अर्थपूर्ण आवाज़ की ज़रूरत होती है। असमानता और नाइंसाफ़ी के वातावरण में आवाज़ों से अर्थ छीन या निचोड़ कर उन्हें सिर्फ़ खोखली ध्वनि से भर दिया जाता है। ऐसे में, आवाज़ों की पुनर्निर्मिति के लिए अपने वृत्तांत को ख़ुद अपने अंदाज़ में बयान करने; उसे दूसरे लोगों द्वारा गढ़े गये सवालों और शर्तों के दायरों से मुक्त करने का काम ज़रूरी हो जाता है। अगर हम आवाज़ को एक राजनीतिक संसाधन और क्षमता मानते हैं तो उसका विकास करना एक बेहद ज़रूरी कर्म है।[36] इसके लिए हमें ऐसी प्रक्रियाओं और परिवेशों का निर्माण करना होगा जहाँ आवाज़ की तरह-तरह से कल्पना की जा सके और उसका अलग-अलग ढंग से अभ्यास किया जा सके। होंडा मज़दूरों ने अपनी सांस्कृतिक दुनिया में शोध, संवाद और तालमेल के ज़रिये विरोध के हर सम्भव प्रदर्शन की विफलता के बाद काँवड़ यात्रा निकालने की युक्ति अपनायी। इसी तरह, एमवीपी के सदस्यों ने अपने कौशल का विकास करने के लिए ऐसे तमाम माध्यमों का प्रयोग किया जो न सिर्फ़ उनके इलाक़े में उपयोगी सिद्ध होंगे बल्कि एक स्थायी युक्ति के तौर पर हमेशा उनके साथ रहेंगे और कई जगह तथा अन्य स्थितियों में आगे भी काम आते रहेंगे।

इस तरह के कार्यों में सहभागिता करने से लोगों की समझ में भी इज़ाफ़ा होता है। लेकिन हमारे कहने का यह मतलब क़तई नहीं है कि लोगबाग अपने जीवन से जुड़े मुद्दों से अनभिज्ञ रहते हैं। हमारा केवल इतना कहना है कि सहभागिता से लोगों के अंतर्निहित ज्ञान / जानकारी में स्पष्टता तथा मुखरता आती है।[37] लोगों की सहभागिता और उनकी ख़ुदमुख़्तारी से निकला मीडिया उनके अपने अनुभवों का निचोड़ होता है। उनके इस अनुभव का दूसरों के मीडिया में उजागर होना बेहद मुश्किल है।

कई बार देखा गया है कि सामाजिक और आर्थिक न्याय का संघर्ष नेतृत्व के अभाव, बदलाव या किसी तरह के संस्थागत सहारे के बिना या तो कमज़ोर पड़ जाता है या बिखर जाता है। लेकिन, अगर लोगों के पास आवश्यक क्षमता हो तो यह ख़तरा काफ़ी हद तक कम हो जाता है। साथ जुड़ने, सोचने और विचार-विमर्श करने से सम्भावनाओं का दायरा बढ़ता जाता है। इसे आगामी समय में उभरने वाले संघर्षों के एक पूर्वाभ्यास के तौर पर भी देखा जाना चाहिए: अगर लोगों के पास क्षमता होगी तो उन्हें स्वतंत्र रूप से कार्रवाई करने में झिझक नहीं होगी!

लेकिन काम की इस शैली के साथ कुछ ख़तरे भी जुड़े हैं। क्षमता स्वत: प्रगतिशील नहीं होती। क्षमताओं का विकास प्रतिक्रियावादी या दक्षिणपंथी मूल्यों से भी प्रेरित हो सकता है, इसलिए ऐसी

[34] ज़ाक राँसिएर (2009).
[35] वही.
[36] निक कॉउल्ड्रे (2010).
[37] डेविड गौंटले (2007).

प्रक्रियाओं को प्रगतिशील धुरी पर बनाए रखने के लिए सिर्फ़ मीडिया के प्रशिक्षण की ही नहीं राजनीतिक प्रशिक्षण की भी सतत आवश्यकता है। लगातार बढ़ते दुष्प्रचार, झूठी ख़बरों, और अफ़वाहों के परिणाम आज हमारे सामने हैं। तबरेज़ नियाज़ी (2019) के अनुसार जैसे-जैसे मोबाइल और इंटरनेट संचार के आयाम लोगों के बीच आमफ़हम होते जाएँगे वैसे-वैसे राजनीतिक शक्ति और लोकमत पर नियंत्रण करने के लिए प्रतिस्पर्धा और संघर्ष की रफ़्तार भी बढ़ती जाएगी।

कथनी और करनी के अंतर को पाटना एक मुश्किल काम होता है। कुछ उदाहरणों के अलावा ज़्यादातर अभियान और आंदोलन पहले चरण में ही उलझ कर रह जाते हैं। पीजीडीसीएम के एक छात्र ने इस विरोधाभास के मर्म को समझते हुए उस पर एमवीपी के कई सदस्यों के साथ बात की थी। उसके अनुसार हमें उद्योग जगत से सीखना चाहिए कि हमारी कोशिश सिर्फ़ अच्छे और रचनात्मक विज्ञापन बनाने तक ही सीमित नहीं रहनी चाहिए, बल्कि विज्ञापित वस्तु को 'बेचने' की भी होनी चाहिए। 'जनतंत्र के नये मंच' लेख के निष्कर्ष में लक्ष्मण यादव ने इस आभासी-ज़मीनी अंतर को बख़ूबी से रेखांकित किया है :

> ... जिन कारणों से हम सोशल मीडिया को एक जन-पक्षधर माध्यम कह रहे हैं, कमोबेश यही कारण इसे सत्ता तंत्र का हथियार बना देने के लिए भी पर्याप्त है। सोशल मीडिया किसी भी आक्रोश या आवाज़ को एक प्लेटफ़ॉर्म ही दे सकता है, यह किसी आमूल परिवर्तन का आधार नहीं बन पा रहा। ये आवाज़ें एवं ऊर्जा संघनित ना होकर विघटित या दमित कर दी जा रही हैं। हाशिए से उठते हुए प्रतिरोध को सोशल मीडिया को अपना पक्ष में उपयोग करने के साथ ही उसकी इन सीमाओं के प्रति भी सजग होना होगा।[38]

सामुदायिक मीडिया के ज़्यादातर उपक्रम अल्पजीवी होते हैं। उनमें निरंतरता लाना काफ़ी मुश्किल होता है। पर ऐसा भी देखा गया है कि इनको दूसरे संदर्भों में दोहराना ज़्यादा मुश्किल नहीं है। भारत और चीन में औद्योगिक कामगारों के द्वारा मोबाइल फ़ोन और इंटरनेट के प्रयोग से यह बात भली-भाँति सिद्ध होती है।

निष्कर्ष

सामुदायिक मीडिया अपने आप में बाक़ी स्थापित मीडिया की तरह एक स्पष्ट और परिभाषित प्रणाली नहीं है। इसे क्रियाओं का एक समुच्चय, दृष्टिकोण या आदर्श भी कहा जा सकता है। शायद इसी अव्यवस्थित संरचना से इसमें लचीलापन और स्फूर्ति आती है। अगर लोग और संस्थाएँ चाहें तो वे एक हद तक इसका इस्तेमाल अपनी ज़रूरतों के अनुसार भी कर सकते हैं। वैकल्पिक मीडिया, ख़ासतौर से कम्युनिटी रेडियो के कई उपक्रमों में देखा गया है कि लोग कार्यक्रम उत्पादन में इसलिए लगे रहते हैं कि कहीं प्रोजेक्ट बंद न हो जाए — साल में चार फ़िल्म बन जाएँ या दिन में कम-से-कम 10-12 घण्टे प्रसारण चालू रहे। इस स्थिति में मीडिया और उसके पीछे का तंत्र लोगों का इस्तेमाल करता है। संस्थाएँ लोगों के लिए कम, लोग संस्थाओं के लिए ज़्यादा काम करने लग जाते हैं। मीडिया विश्लेषक और शोधकर्ता भी इसी समस्या का एक हिस्सा हैं। कई वैकल्पिक मीडिया उपक्रमों के

---

[38] लक्ष्मण यादव (2018) : 113.

ऊपर इतना शोध होता रहता है कि उनकी उपयोगिता ख़त्म हो जाने के बाद भी उन्हें ज़बर्दस्ती सालों-साल ज़िंदा रखा जाता है। कई परिस्थितियों में तो संस्थाएँ इतनी महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं कि लोग या तो दरकिनार कर दिये जाते हैं या ख़ुद तंग होकर सब काम संस्था के हवाले कर देते हैं। इस तरह, लोगों की जगह संस्थाएँ लेने लगती हैं। अगर एक आदर्श के रूप में देखें तो सामुदायिक मीडिया समुदायों की क्षमता का संवर्धन करता करता है। समुदाय में अगर क्षमता है तो संवाद-संचार के काम और राजनीतिक मुद्दों पर किसी एजेंट, बिचौलिए या लीडर के बिना भी भागीदारी की जा सकती है। अगर उसका कोई एक मंत्र जो इसे बाक़ी मीडिया से अलग करता है तो वह यह है : यहाँ कहने और करने में, कहने वालों और करने वालों और मीडिया व राजनीति के बीच की दूरी बहुत कम रहती है।

सामाजिक व्यवस्था जड़ होती है। वह किसी भी प्रकार के प्रगतिशील बदलाव का इसलिए विरोध करती है क्योंकि ऐसे बदलाव शासक वर्ग के निर्धारित हितों पर चोट करते हैं। तमाम तरह की सामाजिक भूमिकाओं का बँटवारा इस तरह से होता है कि यथास्थिति बनी रहे। ऐसे में कौन क्या बोल सकता है क्या नहीं, इसकी सीमाएँ बहुत सख़्ती से तय की जाती हैं। राजनीति का इस तत्त्व यानी इस जड़ व्यवस्था के प्रतिरोध को ज़ाक़ राँसिएर (2004) पुलिस व्यवस्था कहते हैं। टेक्नोलॉजी और सूचना प्रौद्योगिकी के लोकतंत्रीकरण ने विरासत में मिली इस पुलिस व्यवस्था को काफ़ी गहरा झटका दिया है। आज बहुत से लोग इसी की बदौलत अपनी नियत भूमिकाओं की सीमाओं बाहर निकलने का साहस कर रहे हैं; अपनी आवाज़ बुलंद कर रहे हैं; अपनी मौजूदगी का एहसास करा रहे हैं तथा सामाजिक न्याय और परिवर्तन के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

पश्च लेख

एक प्रतिभाशाली छात्र और राजनीतिक तौर पर सक्रिय कार्यकर्ता, रोहित वेमुला जिन परिस्थितियों में गया वह बेहद दुर्भाग्यपूर्ण था। उसकी ज़िंदगी, उसकी तमाम अभिलाषाओं को बेहद निर्दयता से कुचल दिया गया। पर अपनी छोटी-सी ज़िंदगी में भी उसने डॉ. आम्बेडकर के आह्वान, 'एजुकेट, एजीटेट, ऑर्गनाइज़' (पढ़ो, संघर्ष करो, संगठित हो), को पूरी तरह से जीया। इसका प्रमाण उसके चिंतन और लेखन[39] में साफ़ झलकता है। 'जय भीम' के नारे के साथ विदा लेते हुए शायद वह हमारे लिए भी यही सीख छोड़ कर गया है।

संदर्भ

आंद्रे बेते (2003), 'कंसेप्चुएलाइज़िंग द पब्लिक ऐंड द प्राइवेट : द पब्लिक एज़ अ सोशल कैटेगरी', गुरप्रीत महाजन (सं.), द *पब्लिक ऐंड प्राइवेट,* सेज़ पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

क्रिस्टोफ़र आर.मार्टिन (2004), *फ़्रेम्ड! लेबर ऐंड द कोरपोरेट मीडिया,* कोर्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, इथाका, न्युयॉर्क.

क्रेग कैल्हों (1992), 'इंट्रोडक्शन : हैबरमास ऐंड द पब्लिक स्फ़ियर', क्रेग कैल्हों (सं.), *हैबरमास ऐंड द पब्लिक स्फ़ियर,* एमए : एमआइटी प्रेस, केम्ब्रिज.

गेल ऑम्वेट (2003), 'सोशल जस्टिस ऐंड पब्लिक स्फ़ियर', गुरप्रीत महाजन एवं हेल्मुट राइफ़ेल्ड (सं.),द *पब्लिक ऐंड द प्राइवेट: इशूज़ ऑफ़ डेमॉक्रैटिक सिटीज़नशिप,* सेज़ पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

टिमोथी ई. कुक (2005), *गवर्निंग विद द न्यूज़ : द न्यूज़ मीडिया एज़ अ पॉलिटिकल इंस्टीट्यूशन,* युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

डेविड गौंटले (2007), *क्रिएटिव एक्सप्लोरेशंस : न्यू अप्रोचेज़ टू आइडेंटिटीज़ ऐंड ऑडिऐंसिज़,* रौटलेज, लंदन.

डेविड मूज़ (2001), 'पीपुल्स नॉलेज', पार्टिसिपेशन ऐंड पेट्रोनेज : ऑपरेशंस ऐंड रिप्रजेंटेशंस इन रूरल डिवेलपमेंट', बिल कुक एवं उमा कोठारी (सं.), *पार्टिसिपेशन : न्यू टिरनी ?,* ज़ेड बुक्स, लंदन.

[39]2008 से 2016 के बीच रोहित वेमुला की फेसबुक पोस्ट्स को निखिला हेनरी ने सम्पादित किया है. 'कास्ट इज़ नॉट अ रूमर' नामक यह पुस्तक जगरनॉट बुक्स द्वारा प्रकाशित की गयी है.

तबरेज़ नियाज़ी (2019), 'इंटरनेट वर्नाकुलराइज़ेशन, मॉबिलाइज़ेशन, ऐंड जर्नलिज़्म', शकुंतला राव (सं.), *इंडियन जर्नलिज़्म इन अ न्यू इरा : चेंज, चैलेंजेज़, ऐंड पर्सपेक्टिव,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

थॉमस मेयर (2002), *मीडिया डेमॉक्रैसी : हाउ द मीडिया कोलोनाइज़ पॉलिटिक्स,* पोलिटी प्रेस, केम्ब्रिज, युनाइटेड किंगडम.

निक कॉउल्ड्रे (2010), *वाय वॉयस मैटर्स : कल्चर ऐंड पॉलिटिक्स ऑफ़्टर नियोलिबरलिज़्म,* सेज़ पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

निखिला हेनरी (सं.) (2016), *कास्ट इज़ नॉट अ रूमर : द आउटलाइंग डायरी ऑफ़ रोहित वेमुला,* जगरनॉट, नयी दिल्ली.

नैंसी फ्रेज़र (1992), 'रिथिंकिंग द पब्लिक स्फ़ियर : अ कंट्रीब्यूशन टू द क्रिटीक ऑफ़ एक्चुअली एग्ज़िस्टिंग डेमॉक्रैसी', क्रेग कैल्हों (सं.), *हैबरमास ऐंड द पब्लिक स्फ़ियर,* एमए : एमआइटी प्रेस, केम्ब्रिज.

परंजय गुहा ठाकुरता (2015), 'बिज़नेस ऑफ़ पॉलिटिक्स', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* 50 (35).

पायल अरोड़ा (2019), *द नेक्स्ट बिलियन यूज़र्स : डिजिटल लाइफ़ बियॉन्ड द वेस्ट,* हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस.

पूर्णिमा मानकेकर (1999), *स्क्रीनिंग कल्चर, व्यूइंग पॉलिटिक्स : ऐन एथनॉग्रैफ़ी ऑफ़ टेलीविज़न, वूमनहुड, ऐंड नेशन इन पोस्ट–कोलोनियल इंडिया,* एनसी : ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, डरहम.

फ्रांसेस क्लीवर (2001), 'इंस्टीट्यूशंस, एजेंसी ऐंड द लिमिटेशंस ऑफ़ पार्टिसिपेटरी अप्रोचेज़ टू डिवेलपमेंट', बिल कुक एवं उमा कोठारी (सं.), *पार्टिसिपेशन इज़ द न्यू टिरनी ?,* ज़ेड बुक्स, लंदन.

माइकेल वार्नर (2016), *पब्लिक्स ऐंड काउंटर पब्लिक्स,* एमए : ज़ोन बुक्स, केम्ब्रिज.

युरगन हैबरमास (1991), *द स्ट्रक्चरल ट्रांसफ़र्मेशन ऑफ़ द पब्लिक स्फ़ियर : ऐन इंक्वायरी इनटू अ कैटेगरी ऑफ़ बुर्ज़्वा सोसाइटी,* अंग्रेजी अनुवाद : थॉमस बर्जर तथा फ्रेडरिक लॉरेंस, एमआइटी प्रेस, केम्ब्रिज.

---------- (1992), 'फर्दर रिफ़्लेक्शंस ऑन द पब्लिक स्फ़ियर', क्रेग कैल्हों (सं.), *हैबरमास ऐंड द पब्लिक स्फ़ियर,* एमए : एमआइटी प्रेस, केम्ब्रिज.

रतन लाल (2018), 'दलित संघर्ष और सोशल मीडिया', *हंस : जनचेतना का प्रगतिशील कथा मासिक,* पूर्णांक 383, वर्ष 33, अंक 2.

रविकान्त और विनीत कुमार (2018), 'प्रतिबिम्बित लिखिए तहाँ', *हंस : जनचेतना का प्रगतिशील कथा मासिक,* पूर्णांक 383, वर्ष 33, अंक 2.

रवीश कुमार (2016), 'बिजली नहीं ये बैटरी क्रांति है', http://naisadak.blogspot.com/2013/12/blog-post.html. देखें, 28 अगस्त, 2016.

रोबिन जेफ्री (2009), *इंडियाज़ न्यूज़पेपर रेवोल्यूशन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

लक्ष्मण यादव (2018), 'जनतंत्र के नये मंच', *हंस : जनचेतना का प्रगतिशील कथा मासिक,* पूर्णांक 383, वर्ष 33, अंक 2.

विनीत कुमार (2012), *मंडी में मीडिया,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

विनोद पवराला (2013), 'टेन ईयर्स ऑफ़ कम्युनिटी रेडियो इन इंडिया : टूवर्ड्स न्यू सॉलिडैरिटीज़', *ऐडुकॉम एशिया,* 17.

विलियम प्यूऐट (1992), *थ्रू ज्वाइंडिस्ड आइज़ : हाउ द मीडिया व्यू ऑर्गनाइज़्ड लेबर,* कोर्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, इथाका, न्युयार्क.

ज़ाक़ राँसिएर (2004), *द पॉलिटिक्स ऑफ़ ऐस्थेटिक्स : द डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ़ द सेंसिबल,* कंटीन्युअम इंटरनैशनल पब्लिशिंग ग्रुप, न्युयॉर्क.

---------- (2009), *ऐस्थेटिक ऐंड इट्स डिस्कंटेंट्स,* पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज, यूके.

शिवा थोराट (2016), 'आइडेंटिटी ऐंड डाउनलोड कल्चर: रेवोल्यूशन ऑर फ़ार्स ?', http://sarai.net/identity-and-the-transformation-of-a-work-revolution-or-farce/ (28 अगस्त, 2016 को देखा गया).

रोहित वेमुला (2016), 'लास्ट वर्ड्स ऑफ़ रोहित वेमुला', *रैयोट,* 17 जनवरी. http://raiot.in/last-words-of-rohith-vemula.

सुप्रीम कोर्ट ऑफ़ इंडिया, 'यूनियन ऑफ़ इंडिया वर्सेज़ क्रिकेट एसोसिएशन ऑफ़ बंगाल', http://judis.nic.in/supremecourt/imgs1.aspx?file-name=10896 (28 अगस्त, 2016 को देखा गया).

हेनरी जेनकिंस, रवि पुरुषोत्तम, मार्ग्रैरेट वीगेल, कैटी क्लिंटन एवं एलिस जे. रोबिसन (2009), *कंफ्रंटिंग द चैलेंजेज़ ऑफ़ पार्टिसिपेटरी कल्चर : मीडिया एजुकेशन फ़ॉर द ट्वेंटी फ़र्स्ट सेंचुरी,* एमए : एमआइटी प्रेस, केम्ब्रिज.

सामयिक विमर्श

जंगल की हक़दारी

राजनीति और संघर्ष

कमल नयन चौबे

कमल नयन चौबे की इस सामयिक और महत्त्वपूर्ण कृति में वन अधिकार क़ानून बनने और लागू होने का व्यापक विवरण पहली बार पेश किया गया है। कमल उस संदर्भ का परिष्कृत विश्लेषण करते हैं जिसके तहत हमें यह क़ानून समझना चाहिए। उन्होंने इस क़ानून से जुड़े कुछ अहम सवालों की गहराई से विवेचना की है। कमल के तर्क महज़ सैद्धांतिक नहीं हैं। कई जगह वे गहन अनुभवसिद्ध शोध पर आधारित हैं। दरअसल उनकी यह रचना बहु-स्थानिक अनुसंधान का बेहतरीन उदाहरण है।